



## जैन यतिधर्म में स्त्री का स्थान

### साध्वी अनुग्या

शोधार्थी, सांस्कृतिक अध्ययन विभाग, जैन (संभाव्य विश्विद्यालय), कर्नाटका, भारत ।

#### सारांश

जैन दर्शन के आधार पर जीने की प्रक्रिया ही जीवन है। प्रत्येक प्राणी की क्रमशः तीन मुख्य अवस्थाएं होती हैं – जन्म जीवन और मृत्यु। अतः जीवन कुछ नहीं, जन्म और मृत्यु के बीच की अवस्था है। इन तीनों अवस्थाओं में जीवन का महत्व विशिष्ट है, क्योंकि जन्म और मृत्यु तो क्षणिक है। और इन पर प्राणी का कोई बस नहीं चलता जबकि जीवन अपेक्षाकृत दीर्घ होता है। और इसके पल्लवन, पोषण, संवर्धन एवं विकास के लिए प्राणी स्वतन्त्र होता है। जैन दर्शन आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी दर्शन है। जिसमें यह माना गया कि जीवात्मा अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार पूर्वजन्म को समाप्त कर नवीन शरीर को धारण करता है और एक निश्चित अवधि तक इसमें जीकर अगले जन्म के लिए प्रस्थान करता है।

जैन दर्शन में जीवन की व्याख्या दो दृष्टियों से की गई है – आध्यात्मिक और व्यावहारिक आध्यात्मिक-दृष्टि(निश्चय-दृष्टि) आत्मा को ही जीवन का एकमात्र कारण मानती है। और उसके अनुसार यह जीवन जीव का ही कार्य है। क्योंकि जो जीता है, वह वास्तव में जीव ही है। व्यावहारिक-दृष्टि 'आत्मा' और 'शरीर' दोनों को जीवन का प्रमुख घटक मानती है। उसके अनुसार यदि आत्मा जीवन की अंतरंग अभिव्यक्ति है जो शरीर जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति है। पूर्णतः निवृत्ति-प्रधान होने के कारण जैन दर्शन यह मानना है कि मोक्ष ही जीवन का परम-पुरुषार्थ एवं परम-साध्य है।

धर्म, अर्थ और काम से परम सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती जब ऐसा विवेक जागृत हो जाता है। अतः मोक्ष-प्रयत्न ही श्रेष्ठ है। ऐसा मानकर इस मार्ग का चयन किया जाता है। उत्तर आधुनिक परिवेश में विमर्श को मुख्यतः तीन दृष्टिकोणों से देखा जा रहा है : वर्ग, वर्ण एवं लिंग। अतः प्रस्तुत आलेख के माध्यम से जैन धर्म के आध्यात्मिक पक्ष में स्त्री के स्थान तथा महत्व की चर्चा का प्रयास रहा है। जैन धर्म में व्याख्यायित आध्यात्मिक मार्ग का पालन करने का अधिकार स्त्री को दिया गया है या नहीं, श्रमणियों की परंपरा तथा मुक्ति मार्ग की आकांक्षा में जैन स्त्रियां निवृत्ति का मार्ग अपनाने का अधिकार रखती हैं या नहीं, क्या श्रमणों से उनका मार्ग भिन्न है आदि प्रश्नों के प्रत्युत्तर में किए गए लघु शोध प्रबंध का अंश यहां प्रस्तुत किया गया है।

**मूल शब्द :** जैन धर्म, जैन धार्मिक चिंतन, श्रमणी परंपरा ।

#### प्रस्तावना

भारत आस्थाओं का देश है और आस्थाओं का मूर्त स्वरूप है धर्म। संसार के अन्य देशों की अपेक्षा भारत-भूमि की समृद्धि का संकेत इस तथ्य से स्पष्ट है कि संसार की अधिकांश एवं महान धर्मों की जननी यह धरती रही है। हिन्दू का सनातन धर्म, जैन, बौद्ध, सिक्ख, के अलावा ईसाई, इस्लाम, पारसी आदि न जाने कितने ही धर्मों ने इस भूमि का आश्रय प्राप्त किया।

संसार के महान धर्मों में एक धर्म है जैन धर्म। जैन धर्म का प्रागैतिहासिक महत्व है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "ऋषभदेव और अरिष्टनेमि को लेकर जैन धर्म की परम्परा वेदों तक पहुँचती है। जैन पंथ के अंतिम तीर्थंकर महावीर का जन्म ईसा पूर्व ५९९ में हुआ था। सांसारिकता पर विजय प्राप्त करने के कारण वे 'जिन' कहलाए और प्रायः सभी से इस सम्प्रदाय का नाम जैन हो गया।" इससे आगे मौर्य काल हो या गुप्त वंश हो या दक्षिण भारत के कितने ही साम्राज्य रहे हों, सबने इस धर्म को पोषित किया। इसका मुख्य कारण यह था कि इस धर्म का दितन मानव कल्याण की कमना से होते हुए समाज तथा देश को भी समेट लेता है। अत्यंत शांतिप्रिय एवं व्यवहार-कुशल, जैन समुदाय 'जियो और जीने दो' की भावना से प्रेरित होते हुए सबके साथ घुल-मिलकर रहते हैं। उनका मुख्य उपदेश है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा

अपरिग्रह। सम्यग्दर्शन, सम्यक्कथान तथा सम्यक्चरित्र - तीनों को समान महत्व देनेवाले इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य है मनुष्यों के कर्मों को परिष्कृत एवं उन्नत बनाना। बढ़ती हुई भोगवादी प्रवृत्ति के कारण मनुष्य में राग-द्वेष अधिक होते जा रहे हैं। प्रतियोगितावादी जीवन दृष्टिकोण के कारण, बढ़ते हुए आशाओं - आकांक्षाओं के कारण मानव, समाज तथा विश्व में अशान्ति छाई हुई है। इस प्रकार के वातावरण में जैन धर्म द्वारा प्रतिपादित मार्ग के सहारे मनुष्य आत्मशान्ति को प्राप्त कर सकता है। अतः तत्कालीन परिस्थितियों में, इस दृष्टिकोण से, जैन धर्म एवं दर्शन तथा सिद्धान्तों का अध्ययन एवं अनुशीलन अत्यंत प्रासंगिक है।

धर्म सामाजिक, वैयक्तिक तत्व है। किन्तु धर्म की आराधना करने वालों का समुदाय बनना है इसलिए व्यवहार में धर्म भी सामाजिक बन जाता है। धर्म का साध्य भक्ति है। उसका साधन द्विरूप नहीं हो सकता। उसमें मात्रा भेद हो सकता है किन्तु स्वरूप में नहीं हो सकता। मुक्ति का अर्थ है बाह्य का पूर्ण त्याग सूक्ष्म शरीर का भी त्याग। यही तत्व भिन्न-भिन्न युगों में निर्ग्रथ-प्रवचन, जिन-वाणी और जैन धर्म की संज्ञा पाता रहा है। भारतीय मानस पर त्याग और तपस्या का प्रतिबिम्ब है, उसका मूल जैन-धर्म है।

डॉ. अल्टेकर ने इसका अंकन इन शब्दों में किया है – हमारे देश में आने वाले

यूनानी चीनी एवं मुसलमान यात्रियों ने बड़ी-बड़ी प्रशंसात्मक बातें कही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सदाचार और तपस्या सम्बन्धी भगवान महावीर आदि महात्माओं के सिद्धन्त हमारे पूर्वजों के चरित्र में मूर्तिमन्त हुए थे। हम में यह दुर्बलता जो आज दिखाई पड़ रही है, वह विदेशी दासता के कारण ही उत्पन्न हुई। इसलिए समाज से भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए आज अणुव्रत के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है।

जैन का प्रसार अहिंसा, शान्ति, मैत्री संयम का प्रसार था। भगवान महावीर ने समाज के जो नैतिक मूल्य स्थिर किए, उनमें ये बातें सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण थीं। पहला संकल्प हिंसा का त्याग, दूसरा परिग्रह का सीमाकरण - अधुनिक युग में इसकी बहुत आवश्यकता है। यह लोकतन्त्र या समाजवाद का प्रधान सूत्र है। वाराणसी संस्कृत विश्व-विद्यालय के उप-कुलपति आदित्यनाथ झा ने इस तथ्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है – “भारतीय जीवन में प्रज्ञा और चारित्र्य का समन्वय जैन और बौद्धों की विशेष देन है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य मार्ग-परम्परा का अन्धानुसरण नहीं है, प्रत्युत तर्क और उपपत्तियों से सम्मत तथा बौद्धिक रूप से सन्तुलित दृष्टिकोण ही सत्य मार्ग है। इस दृष्टिकोण को प्राप्ति तभी सम्भव है जब मिथ्या विश्वास पूर्णतः दूर हो जाय। इस बौद्धिक आधार शिला पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के बल से सम्यक चरित्र को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। जैनधर्म का आचार-शास्त्र भी जनतन्त्रवादी भावनाओं से अनुप्रणित है। जन्मतः सभी व्यक्ति समान हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार गृहस्थ या मुनि हो सकता है।”

अपरिग्रह सम्बन्धी जैन धारणा भी विशेषतः उल्लेखनीय है। आज इस बात पर अधिकाधिक बल देने की आवश्यकता है, जैसा कि प्राचीन काल के जैन विचारकों ने किया था। ‘परिमित परिग्रह’ उनका आदर्श वाक्य था। सम्भवतः भारतीय आकाश में समाजवादी समाज के विचारों का यह प्रथम उद्घोष था। प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति के विकास की क्षमता, आत्मिक, समानता, क्षमा, मैत्री, विचारों का अनाग्रह आदि के बीज जैन-धर्म ने बोए थे। आज जैन धर्म के यतिधर्म को स्वीकार किया जाना उपयोगिता रखता है।

प्रागवैदिक और वैदिक काल में तपो धर्म का प्राबल्य था। तपो धर्म का परिष्कृत विकास ही जैन धर्म है। तपस्या जैन-साधना पद्धति का प्रमुख अंग है। भगवान महावीर दीर्घ तपस्वी कहलाते थे। जैन श्रमणों को भी तपस्वी कहा जाता है। तपस्वी त्याग के माध्यम से समाज में नयी क्रान्ति ला सकता है। भोगी की बातों का इतना विश्वास नहीं होता, त्यागी की बातों का अनुसरण कर समाज में अनेक बुराइयों को दूर किया जा सकता है।

व्रत का मूल व्रत है। व्रत शब्द आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत के दूरत्व का सूचक है। तप के उद्भव का मूल जीवन का समर्पण है। जैन परम्परा तप को अहंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य करती है। भगवान महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा पालन में बाधा न आये, उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्हीं के लिए है – जिनमें आत्मबल या दैहिक विराग तीव्रतम है।

इस प्रकार जैन संस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्मविजय की धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगों में विभिन्न नामों द्वारा अभिव्यक्त हुई। समझाने के माध्यम से आज यति धर्म की आधुनिक युग में बहुत आवश्यकता है। उसके अतिरिक्त जगत की नैसर्गिक स्वतन्त्रता का भी महान निर्देश है। सामाजिक सुख-सुविधा

के लिए इसकी अपेक्षा की जाती है। किन्तु उस अपेक्षा को शाश्वत-सत्य समझना भूल से परे नहीं होगा।

जैन धर्म में सर्व प्रथम भारतीय संन्यास ने आचारगत विशेषता प्राप्त की। भगवान पार्श्व उसी परम्परा के ऐतिहासिक व्यक्ति हैं जब समाज के कृत्रिम बन्धन से उन्मुक्त हो मनुष्य व्यक्ति स्वरूप की ओर दृष्टि डालता है। सबको धार्मिक जीवन बिताने के लिए प्रेरणा दी और उन्होंने कहा – धर्म की आराधना में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका ये चार तीर्थ स्थापित हुए।

जैन दर्शन में जीवन की व्याख्या दो दृष्टियों से की गई है – आध्यात्मिक और व्यावहारिक आध्यात्मिक-दृष्टि(निश्चय-दृष्टि) आत्मा को ही जीवन का एकमात्र कारण मानती है। और उसके अनुसार यह जीवन जीव का ही कार्य है। क्योंकि जो जीता है, वह वास्तव में जीव ही है। व्यावहारिक-दृष्टि ‘आत्मा’ और ‘शरीर’ दोनों को जीवन का प्रमुख घटक मानती है। उसके अनुसार यदि आत्मा जीवन की अंतरंग अभिव्यक्ति है जो शरीर जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति है।

जैन जीवन दृष्टि भी मूलतः निवृत्ति-प्रधान एवं आध्यात्मिक विचारधारा है। अर्थ के सन्दर्भ में इसका दृष्टिकोण अन्य आध्यात्मिक विचारधाराओं के समान ही है। पूर्णतः निवृत्ति-प्रधान होने के कारण जैन दर्शन यह मानना है कि मोक्ष ही जीवन का परम-पुरुषार्थ एवं परम-साध्य है। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ मूलतः अनाचरणीय एवं हेय है। धर्म-पुरुषार्थ को भी विनाशी एवं संसार परिभ्रमण का कारण मानकर हेय कहा गया है। क्योंकि धर्म-पुरुषार्थ के फलस्वरूप अधिक से अधिक स्वर्ग के भोगोप पूर्ण हो जाने पर जीव पुनः संसार परिभ्रमण के चक्र में फंस जाता है फिर भी मोक्ष का साधन होने से इसकी उपयोगिता को स्वीकारा भी गया है। दूसरे शब्दों में, मोक्षानुकूल धर्म की उपादेयता को जैनाचार्यों ने मान्यता दी। इसी कारण जैनदर्शन में मोक्ष एवं धर्म पुरुषार्थों पर बल दिया गया है। मोक्ष को परम-साध्य एवं धर्म को मोक्ष का साधन माना गया है।

इसी कारण स्त्री या पुरुष दोनों ही धर्म, अर्थ और काम नाशसहित तथा संसार-रोगों से युक्त है। अतः साधक को केवल मोक्ष का प्रयत्न ही करना है। धर्म, अर्थ और काम से परम सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती जब ऐसा विवेक जागृत हो जाता है। चार पुरुषार्थों में से केवल मोक्ष-पुरुषार्थ ही समीचीन, सुहृदायी और सदा ध्रुव रहने वाला श्रेष्ठ पुरुषार्थ शेष तीनों विपरीत स्वभावी है। इसलिए त्याज्य है। इनमें धर्म को छोड़कर शेष दो तो मोक्ष के साधन भी नहीं हैं। अतः मोक्ष-प्रयत्न ही श्रेष्ठ है। ऐसा मानकर इस मार्ग का चयन किया जाता है।

जैन दर्शन में संन्यास को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। सभी तीर्थंकर परमात्मा तद्भव मोक्षगामी होते हुए भी श्रमणत्व को अंगीकार करके अपनी साधना की परिसमप्ति करते हैं। अर्थात् वे श्रमणत्व का सारांश मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इस बात से स्पष्ट है कि संन्यास जीवन का एकमात्र ध्येय-उद्देश्य जीत से शिव बनना होता है। जैन धर्म में श्रमण दो प्रकार से बताया गया है। केश-लुचनानादि से बाह्य श्रमणत्व और राग-द्वेषदि दुर्गुणों पर विजय प्राप्त करने से अभ्यन्तर श्रमणत्व प्राप्त होता है। जिज्ञासु मुकुक्षु को मार्गदर्शन करते हुए आचारण सूत्र की टीका में कहा है कि गृही यति स्यात् यति तु ज्ञान स्यात् अर्थात् मनुष्यत्व का सफलत्व यति धर्म की प्राप्ति व ज्ञानादि से मोक्ष – सुख पाना है।

जीवन में संयम धारण करना अर्थात् यतिधर्म के मार्ग दर्शन में जीवन को बढ़ना सब बड़ी सफलता है। संयम धारण करना सबसे बड़ी सफलता मानव जीवन बड़ा ही दुर्लभ जन्म है। पांच इन्द्रियों को पाना बुद्धि विवेक जागरण पाना वो भी बड़ी सफलता है। संयम धारण करना जैन धर्म में अपने आप में बड़ी

सफलता है। पूर्व इतिहास के माध्यम से मनुष्य भव को सार्थक करने के उद्देश्य से आत्म कल्याण के उद्देश्य से अपने आठों कर्मों का क्षय कर मोक्ष पद को प्राप्त करने वाले सबसे पहले तीर्थंकर हुए जिन्होंने स्वयं पुरुषार्थ कर कर्मों से किनारा कर केवल ज्ञान प्राप्त कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बने जिन्होंने मानव के कल्याण के लिए उद्देश्य दिया और सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान और अपनी वाणी के माध्यम से जीवों का कल्याण किया और उस ज्ञान से अवगत कराया जो आज आधुनिक काल में वैज्ञानिक खोज के द्वारा उस पर तटस्थता की मोहर लगा रहे है।

मानव जीवन को सफल बनाने में सर्वप्रथम स्त्री में माता मरुदेवी जो कि ऋषभदेव की माता जिन्होंने सरल हृदय और उच्च शुभ अध्यवसय से केवल ज्ञान तथा मोक्ष पद को प्राप्त किया साथ ही साथ भगवान महावीर की शिष्या चन्दनमाला जिन्होंने संयम ग्रहण कर मोक्ष पद को प्राप्त किया। वर्तमान समय में अभी वर्तमान पंचम आरा है। भले ही इस आरे में मोक्ष नहीं परन्तु विवेक और जागृति के माध्यम से संयम धारण कर अपने अन्दर के कषाय कुटिलता आदि कर्मों को क्षय कर पुरुषार्थ से उस सफलता को प्राप्त कर सकते है जो भविष्य में या आने वाले भव में उच्चकरणी द्वारा मोक्ष को प्राप्त करने में सार्थक सिद्ध हो सकते है। संयम धारण कर सफलता प्राप्त होती है राग द्वेष मोह क्रोध तनाव आदि चिन्ताओं से मुक्त केवल स्व, और पर की कल्याण की भावना रहती है जो समाज, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, व्यावहारिक और नैतिकता से महत्वपूर्णता रखती है। शिक्षा के क्षेत्र में साहित्य के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करती है।

जैनाचार्यों ने अनुप्रेक्षा का विशेष महत्व बताया है। अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत चिन्तन, मनन, निर्णय, समझ का क्रमशः विकास किया जाता है। अन्ततः तत्वों की तलस्पर्शी अनुभूति तक पहुंचा जाता है। यह ज्ञान भावों की स्पर्शना करता है। और मानसिक, भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास का माध्यम बनता है। उत्तराध्ययन में भगवान महावीर ने बारम्बार कहा है – “समयं गोयमा मा पमायए अर्थात् है गौतमा समय मात्र का भी प्रमाद मत करा।” आध्यात्मिक विकास की व्यवस्था-हमारी योजन में सिर्फ जीवन-यापन की व्यवस्था जुटाने को ही महत्व न मिले बल्कि ऐसी निति हो जिसमें जीवन निर्माण या चरित्र-निर्माण के लिए भी समुचित समय दिया जा सके।

प्रतिबुद्ध (सम्यक उत्थान से उत्थित) साधक जब मोक्ष प्राप्ति हेतु स्वातंत्र्य की साधना करने जाता है या जाती है तब से लेकर साधन उस समय अन्त तक उसके समक्ष कई अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग आते है। यानि के संयम के पथ पर चलने अनेक चुनौतियां आती है। कच्चा साधक उस समय असावधान हो तो उनसे परास्त हो जाता है। उसकी की हुई साधना दुषित हो जाती है। अतः साधक उन उपसर्गों को भली भांति जाने और उनसे पराजित न होकर सम्भाव पूर्वक अपने धर्म पर डटा रहे तभी वह वीतराग, प्रशान्तात्मा एवं स्थितप्रज्ञ बनता है।

उपसर्ग जैनधर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। जो किसी देव, मनुष्य या तियंच आदि दूसरे पदार्थों से आता है। जो साधक के देह और संयम को पीड़ित करता है। वह 'उपसर्ग' कहलाता है। प्रचलित भाषा में कहें तो साधनाकाल में आने वाले इन विहनों, बाधाओं, उपद्रव्यों और आपत्तियों को उपसर्ग कहा जाता है। आशय साधु या साध्वी साधक संयम को अंगीकार करता है तो उसे अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

### प्रतिकूल उपसर्ग

साधक को भिक्षा के लिए जाते हुए घरों में या घरों के आसपास, ग्रामों में या ग्रामों के आसपास नगरों में प्रान्तों में विहार करते हुए कोई-कोई मनुष्य त्रस दे उपसर्ग करे या नय किसी तरह के संकट आ पड़े तो धीर-धीर साधक अक्षुब्ध होकर सम्भाव पूर्वक सहन करे।

भिक्षा आदि के निमित्त से साधक को उनके सम्पर्क में आना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अनेक सम-विषम, आनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों के उपस्थित होने की सदा सम्भावना बनी रहती है। साधक कहीं एक स्थान पर तो रहता नहीं है। वह अपनी अल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रामों में नगरो में प्रान्तों में या इनके अन्तरालों में विचरण करता रहता है। इसलिए अप्रतिबंध विहारी सधक को विविध उपसर्ग-परीषदों का नुभव करता होता है। उपसर्गों के डर से या स्थानकोह से या अन्य किसी तरह की आसम्ति के कारण एक स्थान पर ही जमा रहना साधना के लिए बाधक है। देव और तिर्थंकर उपसर्ग कभी-कभी होते है परन्तु मनुष्यकृत उपसर्ग तो साधना के मार्ग में प्रायः पद-पद पर हुआ करते है।

परिषद-विजय के सम्बन्ध में देशना दी गई है। परिषद गृहवास में ही नहीं साधुचर्या में भी आते है। क्योंकि परिषद ८ कर्मों से है। कर्म तो साधक के भी है। साधुचर्या में, परिषद का स्वरूप बदलता है जाति नहीं। परिषद ज्ञान दर्शन चारित्र तप चारों से विचलित करते है। पर महासत्त साधक को सावद्य औषधि नहीं लेते निखद्य औषधि करना कपता है। सामान्य साधक को उपाश्रय में रहकर परिषद जीतना है। २२ प्रकार के परिषद इस प्रकार है।

क्षुधा परिषद	स्त्री/पुरुष परिषद	अलाभ परिषद
पिपासा परिषद	चर्या परिषद	रोग परिषद
शीत परिषद	निषद्या परिषद	तृणस्पर्श परिषद
उष्ण परिषद	शय्या परिषद	जल्ल परिषद
देशमशक परिषद	आक्रोश परिषद	सत्कार परिषद
अचेल परिषद	वध परिषद	पज्ञा परिषद
अरति परिषद	याचना परिषद	अज्ञान परिषद

परीषद और उपसर्ग आदि- परीषद निर्जरा के सम्बन्ध में प्रत्येक साधक को आते ही है। उपसर्ग देव, मनुष्य, तिर्थंकर के माध्यम से उसी साधक को आते है जिसके जैसे कर्म होते है। साथ-साथ साधक को संयम धारण कर केंचलोचन पैदल विहार करना। संयम धारण करने पर बीमारी रोगग्रस्त होने पर समभाव से कहने करने कहीं बार सधक को ऐसे देश जगह स्थान पर जाते समय तिहारो में अनुकूल प्रतिकूल परीषद आने पर समभाव से उसे सहन करता है। साथ-साथ कहीं बार साधक परीक्षा गृहस्थ के लोग लेते है। मान-अपमान का भी सामना करना पड़ता है। दीक्षा से पूर्व साधक को समाज की तरफ से अनुमति घर परिवार के द्वारा कहीं बार यातनाएं आदि सहना चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जो साधक पूर्व में और संयम धारण के बाद संयम जीवन में दृढ़ता समभाव धारण करता है। वो ही सर्वोत्तम साधक है। साधक को मन के भावो विचारों राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ मोह पर विजय प्राप्त करना जो ये सबसे पहले महत्वपूर्ण है। बालों का लोचन करना पैदल एक देश से दूसरे देश पहुंचना समभाव के साथ विचरण करना अनेक चुनौतियों का सामना करना जो दृढ़ता से इसका पालन करता है। वह ही सच्चा साधक है। भूख प्यास की

चुनौतियां समय-पर आती है। रोग होने पर या अन्त समय पर संलेखना अंगीकार करना और परमात्म में लीन होना सच्चा साधक है।

आध्यात्मिक जीवन की यह विशेषता होती है कि यद्यपि इसका साध्य एकरूप ही होता है फिर भी साधक की अवस्था एक समान नहीं होता। राग, द्वेष कषाय और वासना की तरतमता सभी साधकों में अलग-अलग होती है और इससे साधकों में अनेक स्तर बन जाते हैं। साधक जिस स्तर पर होता है उसकी साधना भी उसी स्तर के अनुरूप होती है। इस प्रकार, साध्य में एकरूपता होने के बाद भी साधक और उसके साधना स्तर में व्यक्तिविशेष की अपेक्षा से विविधताएं होती हैं। अतः यह समझना होगा कि आध्यात्मिक जीवन-प्रबन्धन की दिशा में जो साधक कदम बढ़ाते हैं। उनके विभिन्न स्तर क्या हो सकते हैं।

१. **बहिरात्मा** : जैनाचार्यों ने उस आत्मा को बहिरात्मा कहा है, जो सांसारिक विषय-भोगों में रूचि रखती है। वह पर-पदार्थों में आत्मबुद्धि का आरोपण करके जीती रहती है। और मिथ्या से युक्त होती है यह आत्मा की बहिर्मुखी अर्थात् विषयाभिमुखी अवस्था है।
२. **अन्तरात्मा** : अनतरात्मा देहात्मबुद्धि से रहित होती है। क्योंकि वह स्व और पर की भिन्नता को भेद-विज्ञान के द्वारा जान लेती है। यह आत्मा बारम्बार अपने परमात्मस्वरूप का आलम्बन लेकर ज्ञात-दृष्ट भाव में रहने का अभ्यास करती रहती है। यह चेतना की अन्तर्मुखी अवस्था है।
३. **परमात्मा** : जो आत्मा मर्मफल से इहित राग द्वेष की विजेता, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होती है, उसे परमात्मा कहा जाता है। अरिहंत और सिद्धा जीवन मुक्त आत्मा को अरिहंत एवं देहमुक्त आत्मा को सिद्ध कहा जाता है।
४. **मोक्ष में ही परम सुख** : यह बारम्बार कहा जाता है कि मोक्ष का सुख विशिष्ट सुख है। विषय सुख इसके समक्ष तुच्छ है।

जैनदर्शन मूलतः आध्यात्मिक विचारधारा है, इसमें धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष पुरुषार्थ का गहराई से विश्लेषण किया गया है। यद्यपि चारों पुरुषार्थों का उद्देश्य दुःख से मुक्ति एवं सुख की प्राप्ति ही है, फिर भी एकमात्र मोक्ष ही ऐसा पुरुषार्थ है जो अपने उद्देश्य की सम्यक पूर्ति करता है। प्रशमरति प्रकरण में कहा गया है – काम पुरुषार्थ दुःख का हेतु होने से दुःख रूप है। अर्थ पुरुषार्थ उपाजन, रक्षण एवं विनाश के प्रसंगों में दुःख का कारण बनता है। और धर्म का फल अर्थ एवं काम होने से वह भी दुःख हेतु ही है। अतः सर्वथा अविनाशी और सुख-स्वरूप होने के कारण मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है।

जैसे ही बाह्य पदार्थों को जानकर आत्मा उनके प्रति इष्ट-अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसे ही इच्छाओं से सीधा सम्बन्ध है। दुःख से मुक्ति के लिए व्यक्ति चारों पुरुषार्थों में से किसी न किसी पुरुषार्थ का आश्रय लेता है। इन पुरुषार्थों की दिशाओं में अन्तर है। अर्थ एवं काम इच्छा जन्य दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए इच्छापूर्ति का प्रारम्भ करते हैं। धर्म इच्छाओं को परिवर्तित(सात्विक) करने का प्रयत्न करता है। किन्तु इन तीनों पुरुषार्थों से इच्छाएं सदा के लिए समाप्त नहीं हो पाती। अतः मोक्ष पुरुषार्थ इच्छा पूर्ति के बजाय इच्छाओं से मुक्ति का प्रयत्न करता है। इसके पीछे सिद्धान्त यह है कि जितनी-जितनी इच्छाएं मिटती जाती हैं। उतनी-उतनी दुःखों से मुक्ति भी मिलती जाती है अन्ततः पूर्ण इच्छा रहित अवस्था आने पर परमसुख की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार विषय-सुख, सुख का केवल बाह्य उपचार करता है। अबकि मोक्ष सुख दुःखों के कारणों को मूल से हटाकर स्थायी सुख की प्राप्ति करता है। यही कारण है कि मोक्ष सुख को ही जैन दर्शन में परमसुख कहा जाता है। विषयसुख अनेक प्रकार के दोषों से युक्त होता है इसलिए मोक्ष सुख ही सर्वथा आत्महितकारी है। अतः हर क्षेत्र में अध्यात्मिकता की प्रासंगिकता है।

जैन धर्म के मोक्षमार्ग में यति धर्म का अत्याधिक महत्व है। इस धर्म में मोक्षमार्ग की साधना के रूप में विभाजित श्रावक धर्म और यति धर्म के विभाजन में वस्तुतः यथार्थ साधक तो यति ही है। अतः “सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमणि मोक्षमार्गः” में मोक्षमार्ग का अपर नाम तो श्रामण्य है। धर्म के स्वरूप प्रसंग में जैसा कि लिखा गया कि धर्म कहीं भी प्रभावित नहीं होता जबकि धर्म और धर्मात्माओं से तो देश काल प्रभावित होता है। जैसा कि राम, महावीर आदि धर्मात्माओं से देश-काल प्रभावित हुआ था।

श्रमण(यति) धर्म मोक्षमार्ग का साक्षात् धर्म है। अतः धर्म भी स्रिकाल एक सा ही होना चाहिए और किसी प्रकार की परिस्थितियों में भी उसे अप्रभावित रहना चाहिए। तभी वह श्रम अर्थात् उद्योगियों अर्थात् वीरों का धर्म कहा जा सकेगा। वस्तुतः श्रमण धर्म भी ऐसा ही है। उसका मूल स्वरूप त्रिकाल एक ही रहता उसमें किंचित मात्र भी बदलाव संभव नहीं श्रमण पवित्रता के प्रतीक है। श्रमण वह पवित्र स्वच्छ दर्पण है कि जिनको देखकर अपने मुख की अपवित्रता दिखती है, और उसको दूर करने की प्रेरणा मिलती है। मुख चाहे थोड़ा गन्दा हो अथवा बहुत ज्यादा, परन्तु इन दोनों प्रकार के मुखों को देखने के लिए एक ही प्रकार के अत्यन्त स्वच्छ निर्दोष दर्पण की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार श्रमण एक स्वच्छ, निष्कलंक, निर्दोष आदर्श रूप दर्पण है।

अट्टाईस मूलगुणों का निष्कलंक पालन जैन श्रमण का बाह्य लक्षण है। और यही श्रम की परीक्षा का माध्यम भी है। उसके अंतरंग मूल अर्थात् आत्मा की स्वच्छता को सामान्यतः जजा नहीं जा सकता है। अतः अट्टाईस मूलगुण रूप व्यावहारिक गुणों को ही प्रमुखता दी है। चूंकि वन्द्य-वन्द्यक भाव भी यथार्थ में व्यवहार किया है। निश्चय नय से तो अपनी आत्मा ही वन्द्य है और वही वन्द्यक भी इसी कारण श्रमण के बाह्य गुणों को ही पूज्य माना गया है। जैन धर्म में अन्तरंग शुद्धता को मुक्ति का कारण माना है। और वह आन्तरिक शुद्धता सम्यग्दर्शन ज्ञानचरित्र की लीनता है और मोह-राग-द्वेष से रिक्तता ही उसकी नमनता है। श्रमण शब्द “श्रम” धातु से बना है, जिसका अर्थ है उद्योग करना, परिश्रम करना ये अर्थ हमारे विचार बिन्दु है। परिश्रम होना चाहिए परन्तु उस परिश्रम का दृश्य-क्षेत्र-काल क्या हो ? यह उससे भी ज्यादा विचारणीय है। “श्रम” के भाव के सन्दर्भ में दार्शनिक क्षेत्र में दो प्रकार की मीमांसाएं मिलती हैं – एक तो वे जो किसी न किसी रूप में एक परमसत्ता की कल्पना करके उसमें ही अपना श्रम स्थापित कर सन्तुष्ट होत हैं। जैन दर्शन में श्रमण को आत्म सत्ता में ही उद्यमी बतलाया है। चूंकि यह दर्शन अकतीवादी दर्शन है। और इसके अनुसार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। श्रमण वह प्राणी जो अपने श्रम के बल पर राग-द्वेष आदि विकृत भावों का शमन करते हुए सभी भावों एवं प्राणियों के प्रति समभाव रखता है वही श्रमण है। इस तरह श्रम, शम और समरूप त्रिरत्नों पर आधारित है श्रमण विचारधारा की पृष्ठ भूमि।

चिन्तन के अन्य क्षेत्रों के समान, पिछले १५-२० वर्षों में जैन संप्रदाय में भी इस विषय पर मनन हो रहा है कि धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में स्त्री का स्थान क्या है। मुख्यतः इसके कारण निम्नलिखित हो सकते हैं :

- जैन दर्शन के प्रति स्त्री चिंतकों में बढ़ती आसक्ति (मानवविग्यानी, भाषाविद आदि) जो, भारतीय संदर्भ में, पुरुषों की अपेक्षा श्रविकाओं तथा साध्वियों से आसानी से संपर्क स्थापित कर सकती हैं
- स्त्री विमर्श के दृष्टिकोण से जैन दर्शन को समझने का प्रयास, अपनी सांस्कृतिक धरोहर तथा स्त्री संबंधी विषयों के प्रति बढ़ती सजगता, विश्व स्तर पर धर्म एवं स्त्री से संबंधित विषयों पर बढ़ते प्रकाशन।
- इससे पहले, जिन लोगों ने इस धर्म के दर्शन एवं सिद्धान्तों को समझने का

प्रयास किया है वे भी स्त्री शक्ति के प्रति विशेष सजगता प्रदर्शित कर रहे हैं, विशेषतः जैन संप्रदायों में यति धर्म का पालन करने का प्रण लेने वाली स्त्रियों को लेकर।

विभिन्न तीर्थंकरों के काल में श्रमणियों की संख्या भी बड़ी मात्रा में रही। १९८१ में एक समय में जैन धर्म के विभिन्न मार्गों को मिलाकर कुल ६०५४ साध्वियां थीं। २ यद्यपि प्रायः अनैतिक सामाजिक तत्वों की प्रताडना से पीडित होने की आशंका से इनकी संख्या कम होती दिखाई देने लगी। जैन धर्म के अनुसार स्त्रियों को मुक्ति प्राप्ति में संदेह है। सूत्रों के अनुसार उन्हें एक पुरुष के रूप में जन्म लेना होगा तभी उन्हें जन्म-मृत्यु के इस चक्र से मुक्ति मिल सकती है। तथा यदि वे इस जन्म में अथक, आध्यात्मिक श्रम करेंगी तो अवश्य अगले जन्म में पुरुष का रूप प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टिकोण से यह चिंतन अवश्य सीमित लगता है परंतु अन्य सभी रूपों में श्रमणियों को साधुओं के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। उनका मार्ग भी उतना ही कठिन है। मुक्ति-प्राप्त स्त्रियों एवं श्रमणियों के उदाहरण भी मिलते हैं। उनके लिए रत्नत्रय की प्राप्ति भी संभव है। ३

यद्यपि विश्व के प्रमुख धर्मों में जैन धर्म भी एक ऐसा मार्ग है जिसमें स्त्रियों को आध्यात्मिक मार्ग का पालन करने की स्वतंत्रता है तथापि अन्य संप्रदायों की भांति, जैन धार्मिक चिंतन भी स्त्रियों के प्रति पूर्ववर्ति तथा सार्वभौमिक पूर्वाग्रह से प्रेरित है यथा उन्हें माया-मोह के प्रतीक के रूप में देखना, प्रलोभकों के रूप में देखना, अनिश्चित तथा फ़रेबी व्यक्ति के रूप में देखना। कबीर की 'माया महा ठगिनी' को प्रतिध्वनित करते हुए स्त्री को पुरुष से अलग बताने का मुख्य आधार भी यही बन जाता है। दसवीं शताब्दी में लिखित नानापंचमिकहा में आचार्य माहेश्वरसूरि ने कहा है कि "धोखे को प्रकट करने के परिणामस्वरूप इस दुनिया में एक पुरुष एक औरत बन जाता है एक महिला का दिल शुद्ध है, तो वह इस दुनिया में एक आदमी बन जाती है।" प्रायः स्त्री सहज सभी भयों से प्रेरित होकर ही यह हुआ होगा। आज के युग में विशेषतः स्त्री को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जो आध्यात्मिक मार्ग के पालन में बाधक बन जाते हैं। फिर भी ये श्रमणियां पदयात्राएं कर धर्म के प्रचार-प्रसार के कार्य में निरत हैं। हर रोज जैन युवतियां श्रमण परंपरा को स्वीकार कर रही हैं। मोक्ष मार्ग की स्वीकृति का तात्पर्य यह नहीं कि वे संसार से पूर्णरूप से विमुख हो जाएं। बल्कि इस मार्ग पर चलते हुए भी अनेक सामाजिक - धार्मिक दायित्वों का पालन करना अनिवार्य होता है, विशेषतः समाज - कार्य में संलग्न होना।

भगवान महावीर की माता को प्रथम श्रमणी माना जाता है। उनके बाद एक लम्बी परंपरा ने इस धारा को नित्य प्रवाहशील रखा है - ब्राह्मी, सुंदरी, राजीमति, पुष्पचूला, प्रभावति, मृगावति, चंदनबाला, पद्मावति, मदनेरेखा आदि ऐसी अनेक स्त्रियां हैं जिन्होंने मुक्ति की कामना से संयम का मार्ग अपनाया तथा अन्य स्त्रियों के लिए एक मिसाल स्थापित की। इनके पीछे आज २१वीं सदी तक भी इनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। स्पष्ट है कि इनती सीमाएं तथा चुनौतियां होने के बावजूद स्त्रियां श्रमण परंपरा को समृद्ध बनाने में अपना पूरा योगदान देने के लिए तत्पर हैं। ४

### संदर्भ

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल
२. विदर्भकेसरी वाणिभूषण श्री रतनमुनि, जैन धर्म में श्रमणियों की गौरवमयी परंपरा, [www.jainelibrary.com](http://www.jainelibrary.com)

३. डॉ. (श्रीमति) कुसुमलता जैन, जिन शासन में श्रमणियों की भूमिका, [www.jainelibrary.com](http://www.jainelibrary.com)
४. विदर्भकेसरी वाणिभूषण श्री रतनमुनि, जैन धर्म में श्रमणियों की गौरवमयी परंपरा, [www.jainelibrary.com](http://www.jainelibrary.com)
५. प्रवर्तक श्री रमेश मुनि, अतीत की प्रमुख जैन साध्वियां, [www.jainelibrary.com](http://www.jainelibrary.com)